IJCRT.ORG ISSN : 2320-2882

INTERNATIONAL JOURNAL OF CREATIVE RESEARCH THOUGHTS (IJCRT)

An International Open Access, Peer-reviewed, Refereed Journal

भारत की विविध मूर्तिकला शैलियों का सांगोपांग सिंहावलोकन

Research Scholar: Isha Acharya
Dayalbagh Educational Institute
Dayalbagh, Agra
Dr. Vijaya Kumar(Assistant Professor),
Drawing & Painting,Faculty of Arts

सारांश:

भारत की मूर्तिशिल्प-परम्परा प्राचीन से मध्ययुगोत्तर काल तक सांस्कृतिक सततता का साक्ष्य देती है। प्रागैतिहासिक हड़प्पा-मोहनजो-दड़ो से प्राप्त मिट्टी व कांस्य आकृतियाँ तथा पशु-चिह्नित मुहरें प्रकृति-उर्वरता के प्रतीक रूप में यथार्थवाद व ज्यामितीय संयम का संकेत देती हैं। मौर्य युग में अशोक के शिलास्तम्भ, विशेषकर सारनाथ सिंह-शीर्ष, अत्यन्त परिष्कृत घिसाई तथा आबहासित विदेशी (फारसी-अचेमेनिद) प्रभाव सहित धर्म-विज्ञापन के प्रतीक बने। शुंग काल में सांची व भरहुत की रेलिंगों पर कथानक-राहत और यक्ष-यक्षिणी की उर्वरता-चिन्हक प्रतिमाएँ उभरीं। कुषाण-सातवाहन युग में गांधार परम्परा में यूनानी प्रभावयुक्त तरंगित केश, वस्त्र-रेखाएँ और यथार्थ मुख, जबकि मथुरा में लाल बलुआ-पाषाण की भावपूर्ण, मांसल आकृतियाँजैसे मैत्रेयबोधिसत्त्वविकसित हुईं; दक्षिण में अमरावती में जटिल कथानक-राहत मुख्य रही। गुप्त युग को शास्त्रीय उत्कर्ष का समय माना जाता है: सारनाथ शैली की कोमल रेखाएँ, संतुलित अनुपात, तथा आध्यात्मिक शान्ति; क्षेत्रीय भेदों में मध्य भारत का एरान वराह-शिल्प और दक्षिण का नागरजुनकोंडा प्रमुख हैं। मध्ययुग में चोल कांस्य, विशेषतः नटराज, सृजन-विनाश के नृत्य-चक्र का रूपक प्रस्तुत करते हैं; खजुराहो की शिला-प्रतिमाएँ सौंदर्य व तांत्रिक संकेतों से परिपूर्ण हैं; उड़ीसा की कोणार्क-परम्परा में सूर्य-प्रतीक व सूक्ष्म नक्काशी दीखती है; कश्मीर में गांधार-शास्त्रीय संस्कार का प्रवाह बना रहा। हिन्दू त्रिमूर्ति, बौद्ध बोधिसत्त्व तथा जैन तीर्थंकर का समविकासबहुधार्मिक समन्वय का प्रमाण है; बाह्य प्रभावों ने स्थानीय परम्पराएँ समृद्ध कीं। आधुनिक परिप्रेक्ष्य में वंशानुगत शिल्प-परम्पराएँ, जैसे मकराना संगमरमर में देव-प्रतिमा-निर्माण, सतत प्रेरणा देती हैं।

मुख्य-शब्द: मूर्तिकला, भारतीय, सिंहावलोकन, शैलियां।

प्रस्तावना:

भारतीय मूर्तिकला प्राचीन त्रिविमीय कला परंपरा है, जिसका हेतु आध्यात्मिक तथा धार्मिक तत्त्वों का साक्षात्-अभिव्यंजन है। प्रमुख माध्यम पाषाण, धातु तथा टेराकोटा रहे, जिनसे आदर्शीकृतमानवाकृतियाँ एवं प्रतीक-मंडल निर्मित हुए, जो व्यक्तिगत पहचान के स्थान पर शाश्वत मूल्यों का निरूपण करते हैं। इसकी संरचना में रैखिक सौंदर्य, संतुलित अनुपात तथा प्रतीक-निवेशन प्रमुख है; कमल, मकर, कीर्तिमुख आदि चिह्न ब्रह्मांडीय शक्तियों एवं जीवन-चक्र का संकेत देते हैं। यह कला केवल रूप-बोध नहीं, अपितु आत्मदृष्टि की संवाहिका है, जो लौकिक-अलौकिक के मध्य समतोल स्थापित करती है।

उत्पत्ति का आरम्भ सिंधु घाटी सभ्यता (लगभग ३३००–१३०० ईसा पूर्व) से लक्षित होता है, जहाँ टेराकोटा प्रतिमाएँ तथा मोहनजोदरो से प्राप्त कांस्य "नृत्य करती बालिका" रूप-परिष्कार एवं प्लास्टिकता का उच्च स्तर दर्शाती हैं। इसके पश्चात् द्वितीय सहस्राब्दी ईसा पूर्व में ताम्र-भंडार परंपरा धातु-प्रौद्योगिकी की निरन्तरता सूचित करती है। मौर्य काल (३२१–१८५ ईसा पूर्व) में स्मारकीय पाषाण शिल्प, अशोक स्तंभ एवं पशु-शीर्ष, विशेषतः सारनाथ सिंह-शीर्ष, आकेमेनीप्रभव से अनुप्राणित होकर भारतीय रूप-विन्यास धारण करते हैं। कुशाण काल को प्रथम–तृतीय शताब्दी ईस्वी में स्थिर मानते हुए, मथुरा एवं गांधार में बुद्ध की मानवाकृति परंपरा उदित होती है। गुप्त काल (३२०–५५० ईस्वी) में शास्त्रीय शैली का उत्कर्ष होता है, जो पश्चात् क्षेत्रीय विधानों का आधार बनता है। समग्र विकास-सरणी में सांस्कृतिक आदान-प्रदान सतत समृद्धिकारक रहा।

हिंदू, बौद्ध एवं जैन परंपराएँ इस कला की मेरुदण्ड हैं। वैदिक-उपनिषद् विचारभूमि दर्शन-चेतना प्रदान करती है; बौद्ध कला में सांची स्तूप-राहत, बुद्ध-जीवनकथाएँ एवं बोधिसत्त्व-आकृतियाँ प्रमुख हैं। हिंदू शिल्प में विष्णु-अवतार (वराह, नरसिंह), शिव का नटराज-स्वरूप—विशेषतः चोल कांस्य में—तथा देवियाँ (पार्वती, चामुण्डा) सृष्टि-पालन-संहार का चक्र प्रतीकित करते हैं। जैन शिल्प में तीर्थंकरों की ध्यान-मुद्रा—पद्मासन अथवा कायोत्सर्ग—मुख्य है। यक्ष-यक्षी आकृतियाँ संपन्नता एवं शुभता का संकेत देती हैं; कमल, मकर तथा कीर्तिमुख जल-जन्य ब्रह्मांड-भाव को पुष्ट करते हैं; मिथुन-युग्म जीवन-निरन्तरता का संकेत है। मध्ययुगीन प्रवृत्ति में आकृतियाँ अधिक ध्यानमग्न एवं अंतर्मुखी स्वर ग्रहण करती हैं।

उत्तर भारत में मथुरा शैली (लाल बलुआ पत्थर, प्रथम–तृतीय शताब्दी) सजीव मानवाकृतियों के लिए विख्यात है, जबकि गांधार में यथार्थवादी बुद्ध-प्रतिमाएँ हेल्लीन-प्रभाव का समन्वय करती हैं। गुप्त युग में सारनाथ-केंद्रित शास्त्रीय संश्लेषण डक्कन तक प्रवाहित होकर वाकाटक-अजंता, एलीफेंटा तथा एलोरा में शैल-शिल्प रूप में परिलक्षित होता है। दक्षिण में गुडिमल्लम लिंग (तृतीय–द्वितीय शताब्दी ईसा पूर्व) से आरम्भ, पल्लव (छठी–नवम शताब्दी) के महाबलीपुरम् की "गंगा अवतरण" राहत तथा चोल (८५०–१२५० ईस्वी) के कांस्य, विशेषतः नटराज, शिखर का प्रतीक हैं। पूर्व भारत में पाल–सेन (आठवीं–बारहवीं शताब्दी) में कृष्ण-शिल (बेसाल्ट) एवं कांस्य में बहु-बाहु देवता-विन्यास विकसित होते हैं; कलिंग (ओडिशा, सातवीं–तेरहवीं शताब्दी) में कोणार्क सूर्य-मंदिर का सूक्ष्म नक्काशीयुक्त सौर-प्रतीकवाद उल्लेखनीय है। मध्य भारत में खजुराहो (चंदेल, दशवीं–एकादशवीं शताब्दी) की काम-शिल्प राहतें लोक-जीवन एवं पुराण-गाथा का समुच्चय हैं। विजयनगर (१३३६ ईस्वी पश्चात्) में विराट गोपुरम् तथा अलंकृत पलस्तर-सज्जा द्रष्टव्य है। विविध क्षेत्रीय परंपराएँ मिलकर "एकता में विविधता" का सुदृढ रूप प्रस्तुत करती हैं।

कला-इतिहास पर आधारित पद्धति में पुरातात्विक उत्खनन एवं स्थल-सर्वेक्षण, प्रतिमाविज्ञान, तुलनात्मक विश्लेषण, संग्रहालय-संग्रहों का परीक्षण तथा सामग्री-तकनीक (जैसे खोया-मोम विधि) का अध्ययन सम्मिलित है। इतिहासलेखन की समीक्षात्मक दृष्टि से पूर्वाग्रहों का परिमार्जन किया जाएगा; प्राथमिक (मंदिर, स्तूप) एवं द्वितीयक स्रोतों का समन्वय अपनाया जाएगा। विश्लेषण में आवश्यकतानुसार कुह्न के प्रतिमान-परिवर्तन सिद्धांत का संदर्भ, दक्षिण एशियाई अध्ययन-साहित्य के आलोक में, क्षेत्रीय पाषाण-मूर्तिकला पर लागू किया जाएगा।

अध्ययन का उद्देश्य:

शोध-पत्र का उद्देश्य भारतीय मूर्तिकला शैलियों के सांगोपांग अध्ययन का एक परिचयात्मक अवलोकन प्रस्तुत करना है। शैलियों के ऐतिहासिक विकास, विशेषताओं और सांस्कृतिक संदर्भों की गहन समझ विकसित करने पर केंद्रित है। इसका लक्ष्य कला इतिहास के छात्रों और शोधकर्ताओं को इन शैलियों के सौंदर्य सिद्धांतों और सामाजिक प्रभावों का ज्ञान प्रदान करना है। यह अध्ययन यह दर्शाता है कि कला समाज के मूल्यों को कैसे प्रतिबिंबित करती है और सांस्कृतिक आदान-प्रदान को प्रोत्साहित करती है। इस प्रकार, यह शोध कला के माध्यम से सांस्कृतिक इतिहास को समझने में महत्त्वपूर्ण योगदान देता है।

साहित्यावलोकन:

संदर्भ-ग्रंथ-सूची शोध-पत्र का महत्त्वपूर्ण अंग है। यह लेखक द्वारा अध्ययन और विश्लेषण के लिए प्रयुक्त स्रोतों को दर्शाती है। प्रस्तुत शोध-पत्र का उद्देश्य भारतीय मूर्तिकला की दो प्रमुख धाराओं—मृण्मयी एवं पाषाण—का तुलनात्मक विश्लेषण करना है। इस विषय पर उपलब्ध विपुल वाङ्मय का अवलोकन यह स्पष्ट करता है कि यद्यपि दोनों ही माध्यमों पर स्वतंत्र रूप से

गहन शोध हुआ है, तथापि उनके मध्य के अंतर्संबंधों, तकनीकी भिन्नताओं एवं सौन्दर्यशास्त्रीयद्वैत पर केंद्रित तुलनात्मक अध्ययन की आवश्यकता बनी हुई है। यह साहित्यवलोकन उपलब्ध ज्ञान को संश्लेषित कर उस वैचारिक आधारभूमि को स्थापित करेगा जिस पर वर्तमान शोध की संरचना निर्मित होगी।

भारतीय भारतीयमूर्तिशिल्प की विविध शैलियां प्राचीन काल से ही सांस्कृतिक, धार्मिक तथा सामाजिक अभिव्यक्ति का माध्यम रही हैं। इस क्षेत्र में अनेक विद्वानों ने गहन अनुसंधान किया है, जिनके ग्रंथों से इन शैलियों का सांगोपांग अवलोकन संभव होता है। वासुदेव शरण अग्रवाल द्वारा सन् १९५६में रचित 'भारतीय मूर्तिकला' ग्रंथ में प्राचीन भारतीय मूर्तियों की संरचना तथा उनके सौंदर्यशास्त्रीय महत्व का वर्णन है। यह ग्रंथ वैदिक काल से आरंभ होकर मूर्तिशिल्प के विकास को स्पष्ट करता है, जिसमें मूर्तियां जीवन के विभिन्न पक्षों को दर्शाती हैं। इसी प्रकार, स्टेलाक्रेमरिश का सन् १९३३का 'भारतीय मूर्तिकला' ग्रंथ प्राचीन, शास्त्रीय तथा मध्ययुगीन शैलियों का सर्वेक्षण प्रस्तुत करता है, जहां मूर्तियों की स्थायी गुणवत्ता पर बल दिया गया है। यह ग्रंथ मूर्तिशिल्प को समय तथा स्थान के संदर्भ में समझने का प्रयास करता है।

बेंजामिन रोलैंड का सन् १९५३का 'भारत की कला तथा स्थापत्य: बौद्ध, हिंदू, जैन' ग्रंथ बौद्ध, हिंदू तथा जैन शैलियों का विस्तृत वर्णन करता है, जिसमें मूर्तिशिल्प को स्थापत्य से जोड़कर देखा गया है। यह ग्रंथ चार हजार वर्षों के इतिहास को संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करता है, तथा मूर्तियों में निहित धार्मिक प्रतीकों की व्याख्या करता है। प्रमोदचंद्रा का सन् १९८५का 'भारत की मूर्तिकला, ३०००ई.पू.-१३००ई.पू.' नामकग्रंथ वस्तुतः ३०००ईसा पूर्व से १३००ईसा तक की मूर्तियों का कैटलॉग है, जो राष्ट्रीय कला दीर्घा के प्रदर्शन पर आधारित है। इसमें मूर्तिशिल्प की विविधता को कालक्रम से दर्शाया गया है, तथा प्रत्येक शैली के सांस्कृतिक संदर्भ दिए गए हैं।जे.सी. हार्ले का सन् १९९४का 'भारतीय उपमहाद्वीप की कला तथा स्थापत्य' ग्रंथ भारतीय उपमहाद्वीप की कला को विस्तार से वर्णित करता है, जिसमें मूर्तिशिल्प की क्षेत्रीय विविधताओं पर प्रकाश डाला गया है। यह ग्रंथ सातवीं से नवीं शताब्दी तक की शैलियों को शामिल करता है, तथा मूर्तियों में निहित सामाजिक परिवर्तनों की चर्चा करता है। रॉय सी. क्रेवेन का सन् १९९७का 'भारतीय कला: एक संक्षिप्त इतिहास' ग्रंथ भारतीय कला का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत करता है, जिसमें मूर्तिशिल्प की विविध शैलियां जैसे सिंधु घाटी से गुप्त काल तक शामिल हैं। यह ग्रंथ कला को सामान्य पाठकों के लिए सरल बनाता है, तथा मूर्तियों में निहित सौंदर्य को उजागर करता है।

राय कृष्णदास का सन् १९५०का 'भारतीय मूर्तिकला' ग्रंथ हिंदी में लिखित है, जो भारतीय मूर्तिशिल्प की प्राचीन परंपराओं का वर्णन करता है। यह ग्रंथ मूर्तियों को धार्मिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से व्याख्यायित करता है। अन्नू महाजन का सन् २०१८का 'भारतीय मूर्तिकला' ग्रंथ आधुनिक संदर्भ में मूर्तिशिल्प का परिचय देता है, जिसमें विभिन्न शैलियों की वर्तमान प्रासंगिकता पर बल है। वासुदेव शरण अग्रवाल का सन् १९५३का 'भारतीय कला का इतिहास' ग्रंथ कला के इतिहास को विस्तार से वर्णित करता है, जिसमें मूर्तिशिल्प की विकास प्रक्रिया शामिल है। रामशंकर त्रिपाठी का सन् १९६०का 'भारतीय इतिहास' ग्रंथ प्राचीन भारत के इतिहास में मूर्तिशिल्प को स्थान देता है।गुप्त काल पर केंद्रित ग्रंथों में ए. अग्रवाल का सन् १९८९का 'Rise and Fall of the Imperial Guptas' गुप्त साम्राज्य के उत्थान-पतन में मूर्तिशिल्प की भूमिका बताता है। जे.सी. हार्ले का सन् १९७४का 'Gupta Sculpture' चौथी से छठी शताब्दी की मूर्तियों का वर्णन करता है, जो गुप्त शैली की उत्कृष्टता दिखाता है। जे.जी. विलियम्स का सन् १९८२का 'The Art of Gupta India' साम्राज्य तथा प्रांतों में गुप्त कला का विवरण देता है।

मध्ययुगीन शैलियों पर रामप्रसाद चंदा का सन् १९३६का 'ब्रिटिश संग्रहालय में मध्यकालीन भारतीय मूर्तिकला' ब्रिटिश संग्रहालय की मूर्तियों का कैटलॉग है, जो मध्ययुगीन विविधता दर्शाता है। सिंथियापैकर्टअथर्टन का सन् १९९७का 'प्रारंभिक मध्यकालीन राजस्थान की मूर्तिकला' राजस्थान की सातवीं से नवीं शताब्दी की मूर्तियों का कालक्रम प्रस्तुत करता है। गिरिराज किशोर अग्रवाल का सन् १९८५का 'भारतीय मूर्तिकला का परिचय' मूर्तिशिल्प का सरल परिचय देता है। शुकदेव शुक्ल का सन् १९५९का 'भारतीय कला गौरव' भारतीय कला के गौरव को उजागर करता है। राय कृष्णदास का सन् १९८५का 'भारतीय शिल्पकार' शिल्पकारों की भूमिका पर केंद्रित है।आधुनिक काल पर सविता वर्मा का जून २०२१का लेख 'आधुनिक भारतीय मूर्तिकला के अग्रदूत: रामकिंकरबैज' रामकिंकरबैज की भूमिका बताता है, जो आधुनिक शैलियों के अग्रदूत हैं। अलका सोती का सन् २०१७का 'भारतीय मूर्तिकला' आधुनिक संदर्भों को शामिल करता है।

ये ग्रंथ सामूहिक रूप से भारतीय मूर्तिशिल्प की विविधता को प्रकाशित करते हैं, जहां प्राचीन सरलता से आधुनिक जटिलता तक का सफर दृष्टिगोचर होता है। इनमें क्षेत्रीय, धार्मिक तथा कालिक भिन्नताएं प्रमुख हैं, जो इस कला को समृद्ध बनाती हैं। अनुसंधानकर्ता इन ग्रंथों से प्रेरणा लेकर आगे के अध्ययन कर सकते हैं।

शोध-पत्र:

भारत की विविध मूर्तिकला शैलियों कासांगोपांग सिंहावलोकन

भारत की विविध मूर्तिकला परंपराओं का सांगोपांग विवेचन करते हुए आरम्भ में सिंधु घाटी सभ्यता का स्मरण अपेक्षित है, जो लगभग २६०० ईसा पूर्व से १९०० ईसा पूर्व तक विकसित रही। इस सभ्यता में मुख्यतः पक्व मृत्तिका से निर्मित लघु आकृतियां और पशु-मानव के विविध रूपों की सृष्टि हुई, जो दैनिक जीवन, अनुष्ठान और प्रकृति-चेतना का प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करती थीं। मोहनजोदाड़ो से प्राप्त प्रसिद्ध नृत्य करती बालिका की कांस्य प्रतिमा, ऊँचाई में लगभग दस सेंटीमीटर, गति के सजीव भाव और देह-रचना के विलक्षण संतुलन का द्योतक है।9 इसी स्थल से प्राप्त पुरोहित-राजा का शिल्पितस्टैटाइट मुख-प्रतिरूप, दाढ़ीयुक्त चेहरा, पैटर्नयुक्त वस्त्र और चिंतनशील दृष्टि के कारण उल्लेखनीय है; यह धार्मिक-राजकीय प्रभुत्व और रूपबोध के सम्मिलन की संवेदना देता है। बैल की आकृतियां और अन्य पशु-प्रतिमाएं भी प्रमेय स्वरूप में उपलब्ध हैं, जो पशुपालन तथा कृष्य जीवन की प्रधानता के सूचक हैं। पक्व मृत्तिका की असंख्य स्त्री-मूर्तियां, प्रायः मातृदेवी-निरूपण, उर्वरता-संकेतक रूप में विस्तीर्ण नेत्र और बहुल आभूषणधारित रूपों के साथ मिलती हैं; इन सबमें अतिरंजना का न्यूनत्व और अनुपात-साम्य का सौन्दर्य स्पष्ट है, जिससे यह सिद्ध होता है कि कला यहाँ दैनिक उपयोग, लोक-विश्वास और आध्यात्मिक भाव से गुँथी हुई थी।10

इसके उपरान्त वैदिक काल का अवलोकन आवश्यक है, जिसे लगभग १५०० ईसा पूर्व से ६०० ईसा पूर्व का समय माना जाता है। इस काल में मूर्तिपूजा का प्रचलन न्यून था; यज्ञ, स्तुति और मंत्रप्रधान परंपरा के कारण देव-आकृतियां अधिकतर मानसिक कल्पना और प्रतीक-रूप में प्रतिष्ठित रहीं। ऋग्वैदिक देवताओं में इन्द्र को वज्रधारी, मेघ-विदारणकर्ता और वर्षा-प्रदाता रूप में शक्तिस्वरूप माना गया; अग्नि को ज्योति-शक्ति और ऊर्जा का देव, ज्वाला-प्रेरित आकृति-भाव के साथ; मित्र-वरुण को सूर्य-जल के संरक्षक रूप में कल्पित किया गया। वैदिक साहित्य में देवताओं का ३३ में वर्गीकरण ८ वसु, ११ रुद्र और १२ आदित्य के रूप में किया गया है, जोकि प्रकृति के विविध तत्त्वों का निरूपण करता है।7 इस काल में स्थूल मूर्तियां प्रायः अनुपस्थित हैं, किंतु कल्पित रथस्थ सूर्य का रूप, पश्चादवर्ती काल में सूर्य-मन्दिरों की मूर्तियों और पट्ट-चित्रों में प्रतिध्वनित हुआ।9 अतः वैदिक देव-कल्पनाएं, यद्यपि मूर्तिरहित, उत्तरकालीन प्रतिमाशिल्प की वैचारिक नींव के रूप में ग्राह्य हैं।

अन्ततः मौर्य काल ३२२ ईसा पूर्व से १८५ ईसा पूर्व तक मूर्तिकला में क्रान्तिकारी परिवर्तन का कारक बना। अशोक-युग में शिलाओं का सुव्यवस्थित प्रयोग, अखंड स्तम्भनिर्माण और अत्यन्त चमकीली मौर्य पॉलिश का विकास हुआ। अशोक स्तंभों के शीर्षभागों में विविध पशुरूपों के शिल्पितशिरोभाग मिलते हैं; सारनाथ का सिंहशीर्ष चार सिंहों का पीठ-से-पीठ सटा संयोजन है, अधोभाग में धर्मचक्र और अभिज्ञान-चिह्नों के साथ, जो बौद्ध धर्म के प्रसार तथा राजकीय धम्म-नीति के सांकेतिक रूप हैं। संकिस्सा का हस्तिशीर्ष, रामपुरवा का बैलशीर्ष, वैशाली और लौरिया-नंदनगढ़ के सिंहशीर्ष, सब मिलकर इस काल की शैली-निपुणता और प्रतीक-विन्यास का प्रमाण देते हैं; स्तम्भों पर उत्कीर्ण अभिलेख अशोक के धम्म-विधान का प्रकटीकरण करते हैं।10 शिल्प-रूप में कहीं-कहीं आचेमेनिड-फारसी प्रभाव, विशेषतः स्तम्भ-मुख और बेल-बूटे की विन्यास-शैली में, दृष्टिगोचर होता है, परन्तु मूलतः स्वदेशी लोक-धाराओं से उद्भूत यक्ष-यक्षिणी परंपरा और वृक्ष-स्त्री जैसे प्रसंग प्रधान हैं। दीदारगंज की यक्षिणी उच्च-घिसाई, संरचना-संतुलन और सजावटी परिष्कार की अद्भुत मिसाल है; यद्यपि उसके काल-निर्धारण पर विद्वत-मतभेद विद्यमान हैं, तथापि वह भारतीय शिल्प-संस्कार की ऊर्ध्वगति का साक्ष्य देती है।7

इन सभी धाराओं में सरलता से कल्पना और महत्ता तक का क्रमिक उत्कर्ष दीख पड़ता है। सिंधु घाटी सभ्यता की लघु-आकृतियों में जीवन-रस की सादगी, वैदिक काल में भाव-प्रतीक की मनोवैज्ञानिक सूक्ष्मता, और मौर्य काल में राजकीय-धार्मिक वैभव की भव्य अभिव्यक्ति, तीनों मिलकर भारतीय मूर्तिकला की बहुविध स्वर-रेखाओं का समन्वय करती हैं। यह समेकित परम्परा आगे के कालों, यथाशुंग, आन्द्र-पुष्यक, कुषाण आदि में और अधिक समृद्ध रूप में प्रस्फुटित होती है, परन्तु उसकी आधारभूमि इन्हीं प्रारम्भिक चरणों में द्रष्टव्य है। कुलतः इन कालों की मूर्तिकला एक सशक्त माध्यम के रूप में प्रकट होती है, जो जीव, प्रकृति, धर्म और राज्य आदि सभी के बहुविध आयामों का सटीक, प्रमाणित और कलात्मक निरूपण करती है।9

भारतीय मूर्तिकला का प्रारंभिक काल शुंग, सातवाहन तथा कुषाण राजवंशों से जुड़ा है, जो लगभग दूसरी शताब्दी ईसा पूर्व से तृतीय शताब्दी ईस्वी तक फैला। इस काल में मूर्तिकला मुख्यतः बौद्ध, जैन तथा लोक धार्मिक विषयों पर केंद्रित रही, जिसमें पत्थर की नक्काशी तथा मृण्मूर्तियाँ प्रमुख माध्यम बनीं। शुंग काल में मौर्य साम्राज्य के पतन के बाद कला में लोक तत्वों का

समावेश हुआ, जबकि सातवाहन काल में दक्षिणी भारत की कलाएँ फलीं। कुषाण काल ने विदेशी प्रभावों को अपनाकर भारतीय कला को नया आयाम दिया। अनुसंधानकर्ताओं का मत है कि इस काल की मूर्तियाँ धार्मिक प्रचार तथा राजकीय संरक्षण का परिणाम हैं।9

शुंग काल की मूर्तिकला में सांची तथा भरहुत स्तूप प्रमुख हैं। सांची स्तूप का निर्माण अशोक ने ईसा पूर्व तृतीय शताब्दी में प्रारंभ किया, किंतु शुंग काल में इसमें तोरण तथा वेदिका जोड़ी गई। स्तूप का आधार चबूतरा है, ऊपर अंडाकार गुंबद तथा हर्मिका, जिस पर छत्र है। चार तोरण द्वारों पर तेहरीमेहराबें हैं, जिनमें सिंह, बैल तथा यक्ष-यक्षिणी की आकृतियाँ तराशी गईं। विशेषताएँ: मूर्तियों में सपाट डौल, वक्र रेखाएँ तथा प्राकृतिक अलंकरण जैसे फूल तथा पत्तियाँ। उदाहरण: पूर्वी तोरण पर रामग्राम जातक का दृश्य, जहाँ हाथी तथा मनुष्य जीवंत भाव से उकेरे गए। सांची की मूर्तिकला में बुद्ध का मानव रूप नहीं, बल्कि प्रतीक जैसे बोधिवृक्ष तथा पदचिह्न हैं। इसी काल की कौशांबी से प्राप्त मृण्मूर्तियाँ जैसे हथिनी तथा युवक की आकृतियाँ लोक जीवन दर्शाती हैं।7सातवाहन काल में अमरावती तथा नागार्जुनकोंडा स्तूपों की मूर्तिकला विकसित हुई। अमरावती स्तूप ईंटों से निर्मित है, किंतु इसकी बाड़ संगमरमर की है, जिसमें जटिल नक्काशी है। विशेषताएँ: मूर्तियों में गतिशीलता, प्रकृतिवाद तथा भावपूर्ण चित्रण, जैसे स्त्रियाँ वक्र मुद्राओं में। उदाहरण: रेलिंग पर बुद्ध के जीवन दृश्य जैसे महाभिनिष्क्रमण तथा बोधि प्राप्ति, जहाँ पशु तथा वृक्ष जीवंत हैं। अमरावती की मूर्तियों में रोमन प्रभाव जैसे सलवटें दिखती हैं, किंतु विषय भारतीय हैं। नागार्जुनकोंडा से प्राप्त मूर्ति-फलक में राजपरिवार की आकृतियाँ हैं, जो धार्मिक उदारता दर्शाती हैं।8

कुषाण काल की मथुरा शैली में लाल पत्थर की मूर्तियाँ प्रमुख हैं, जो भावपूर्ण तथा भारतीय परंपरा से जुड़ी हैं। विशेषताएँ: खड़ी मुद्रा, प्रभामंडल तथा वस्त्र की सलवटें। उदाहरण: कनिष्क की मूर्ति, जहाँ राजा की आकृति में शक्ति तथा आध्यात्मिकता है। मथुरा से प्राप्त प्रसाधिका स्तंभ पर स्त्री आकृतियाँ हैं, जो जैन प्रभाव दर्शाती हैं। गांधार शैली में काले पत्थर की मूर्तियाँ यूनानी प्रभाव वाली हैं। विशेषताएँ: यथार्थवाद, घुंघराले बाल तथा मांसल शरीर। उदाहरण: बुद्ध की पद्मासन मुद्रा वाली मूर्ति, जहाँ आँखों का कटाक्ष तथा छाजन प्रमुख हैं। गांधार की मूर्तियों में जातक कथाएँ जैसे गोमूत्रिका दृश्य हैं।7इस काल की मूर्तिकला ने भारतीय कला की आधारशिला रखी, जो विविध प्रभावों से समृद्ध हुई।

भारत की मध्यकालीन मूर्तिकला शैलियां देश की सांस्कृतिक विविधता का सजीव प्रमाण हैं, जहां विभिन्न राजवंशों तथा क्षेत्रों के प्रभाव से विभिन्न शैलियों का विकास हुआ। मध्यकाल (लगभग ७वीं से १३वीं शताब्दी) में ये शैलियां मुख्यतः धार्मिक थीं, जिनमें पत्थर, कांस्य तथा अन्य सामग्रियों से बनी मूर्तियां मंदिरों की भित्तियों तथा आंतरिक भागों को सुशोभित करती थीं। दक्षिण भारत में पल्लव, चोल तथा होयसल शैलियां प्रमुख हैं, जबकि उत्तर में पाल, चंदेल तथा सोलंकी शैलियां विकसित हुईं। पूर्व में ओडिशा शैली तथा जैन मूर्तियां पश्चिम तथा पूर्व दोनों क्षेत्रों में फैलीं। इन शैलियों की विशेषताएं क्षेत्रीय सामग्री, धार्मिक ग्रंथों तथा स्थानीय परंपराओं से प्रभावित हैं। विद्वान जैसे स्टेलाकृमरिश तथा वासुदेव शरण अग्रवाल ने इनकी संरचना तथा स्थिरता पर बल दिया है।1

दक्षिण भारत की पल्लव शैली का आरंभ महेंद्रवर्मन प्रथम के शासन में हुआ, जहां नरम पत्थरों से कठोर ग्रेनाइट तक का संक्रमण देखा जाता है। इस शैली की विशेषता है आकृतियों की पतलापन, परिष्कृत भाव-भंगिमा तथा सौम्यता। द्वारपालों की मूर्तियां मजबूत शारीरिक संरचना वाली हैं, जो सातवाहन तथा इक्ष्वाकु परंपराओं से प्रभावित हैं। आइकनोग्राफी में शिव की विभिन्न रूप जैसे अर्धनारीश्वर तथा विष्णु के अवतार प्रमुख हैं। उदाहरण के रूप में महाबलीपुरम के धर्मराज रथ तथा कैलासनाथ मंदिर कांचीपुरम में हैं, जहां गंगा अवतरण का विशाल शिलाचित्रण सैकड़ों आकृतियों से युक्त है, जिसमें जीवन-आकार के हाथी भी शामिल हैं।2 इस शैली में काव्य जैसे पूर्णनुरु तथा शिलप्पादिकरमसे प्रेरित चित्रण हैं, जहां देवी कोर्रवाई (दुर्गा) तथा सोमस्कंद (शिव-पार्वती-स्कंद का परिवार) प्रमुख हैं।

चोल शैली पल्लव की निरंतरता है, परंतु अधिक अलंकृत तथा कथा-आधारित। इस शैली में मंदिरों की भित्तियों पर बड़े कथा-पैनल तथा एकल आकृतियां निचों में हैं। आकृतियां सुंदर तथा शक्तिशाली हैं, विशेषकर कांस्य मूर्तियां जो खोया मोम तकनीक से बनी हैं। शिव के नटराज रूप में डमरू (सृष्टि का ढोल), अग्नि (विनाश की ज्वाला) तथा अभय मुद्रा प्रमुख हैं, जहां दाहिना पैर अपस्मार (अज्ञान) पर है। उदाहरण ब्रिहदीश्वर मंदिर तंजावुर तथा गंगैकोंडचोलपुरम हैं, जहां द्वारपालक, गजलक्ष्मी तथा अर्धनारीश्वर की मूर्तियां उच्च उभार वाली हैं।14चोल मूर्तियां धार्मिक उत्सवों के लिए प्रक्रियागत थीं, तथा इनमें पार्वती के साथ शिव के विभिन्न अवतार प्रमुख हैं।होयसल शैली में नरम पत्थर से बनी आकृतियां अधिक प्लास्टिक तथा लयबद्ध हैं, जहां सिल्हूट छोटे तथा संतुलित हैं। विशेषता है तरलता तथा विस्तृत अलंकरण, जो चोल से भिन्न है। मिथुन आकृतियां, रामायण-महाभारत के

कथा-दृश्य तथा शालभंजिका (वृक्ष देवियां) प्रमुख हैं। उदाहरण बेलूर के केशव मंदिर तथा हलेबिड के होयसलेश्वर मंदिर हैं, जहां शिव गजासुरसंहारमूर्ति तथा मोहिनी की मूर्तियां शांत तथा राजसी हैं।[15] इस शैली में साहित्यिक प्रभाव से महिलाओं की मुद्राएं जैसे संगीतकार या तिलक लगाती हुई दिखाई जाती हैं।

उत्तर भारत में पाल शैली बंगाल में विकसित हुई, जहां आकृतियां कठोर मुद्रा वाली तथा आभूषणों से लदी हैं। बहु-भुजाएं तथा मुद्राएं प्रमुख हैं, तथा उच्च उभार वाले स्लैब आधे जीवन-आकार से बड़े हैं। चेहरे तीक्ष्ण तथा निश्चित हैं। उदाहरण ललिता (त्रिपुरा सुंदरी) की बेसाल्ट मूर्ति, जहां गणेश तथा कार्तिकेय साथ हैं।[2] यह शैली हिंदू तथा बौद्ध दोनों को प्रभावित करती है, तथा सेना वंश द्वारा उत्तराधिकारित हुई।चंदेल शैली मध्य प्रदेश में खजुराहो मंदिरों में दिखती है, जहां जटिल नक्काशी दैनिक जीवन, पौराणिक कथाएं तथा कामुक मूल्यों को दर्शाती है। कामुक दृश्य कुल का दसवां भाग हैं, तथा ये कौल-कापालिक संप्रदाय से प्रभावित हैं। आकृतियां गतिशील तथा जीवनपूर्ण हैं, जैसे धनुर्धारी हाथियों पर तथा मैथुन समूह। उदाहरण खजुराहो का पश्चिमी समूह मंदिर।[1]

सोलंकी शैली गुजरात तथा राजपूताना में है, जहां मंदिरों की दीवारें नक्काशी रहित हैं, परंतु गर्भगृह तथा मंडप आंतरिक-बाह्य जुड़े हैं। विशेषता है उड़ते हुए मेहराब जैसे तत्व तथा जटिल स्तंभ। उदाहरण दिलवाड़ा जैन मंदिर, जहां संगमरमर की नक्काशी विस्तृत है, तथा अदलज की बावड़ी सोलंकी स्थापत्य की है।[15] इस शैली में संकर मूर्तियां जैसे वराह तथा नाग के रूप प्रमुख हैं।पूर्व में ओडिशा शैली (कलिंग कला) सोमवंशी तथा पूर्वी गंगा वंशों के अधीन फली, जहां जटिल नक्काशी, लयबद्ध रचनाएं तथा परिष्कृत आइकनोग्राफी है। हिंदू देवता जैसे शिव, विष्णु, सूर्य तथा अप्सराओं के दृश्य महाकाव्यों से हैं। शुरुआती चरण में मुक्तेश्वर मंदिर पर त्रिभंग मुद्रा वाली महिलाएं, तथा बाद में लंबे सिल्हूट तथा उच्च उभार। कामुक मैथुन दृश्य दीवारों को जीवंत बनाते हैं। उदाहरण लिंगराज मंदिर, राजरानी मंदिर तथा कोणार्क सूर्य मंदिर, जहां सूर्य की मूर्ति तथा तारा की मूर्ति हैं।[14]

जैन मूर्तियां मध्यकाल में बौद्ध तथा हिंदू परंपराओं के साथ विकसित हुईं, जहां गुलाबी बलुआ पत्थर से मथुरा में बनीं। विशेषता है अहिंसा, ध्यान तथा तीर्थंकरों की शांत मुद्राएं। क्षेत्रीय शैलियां जैसे पाल में जैन आकृतियां बहु-धर्मीय संदर्भों में हैं। उदाहरण उदयगिरि तथा खंडगिरि की गुफा मंदिर, लोहनिपुर धड़, तथा दिलवाड़ा तथा राणकपुर मंदिरों में संगमरमर की विस्तृत नक्काशी, जहां नेमिनाथ तथा पार्श्वनाथ प्रमुख हैं।[2] ये मूर्तियां जैन सिद्धांतों को दर्शाती हैं, जैसे बहुबली की वन से लिपटी मूर्ति।ये शैलियां भारत की सांस्कृतिक एकता तथा विविधता को दर्शाती हैं, जहां उत्तर की गतिशीलता तथा दक्षिण की संतुलित सुंदरता विपरीत हैं। अनुसंधान से पता चलता है कि ये सामग्री तथा धार्मिक प्रभावों से प्रभावित हैं, तथा विवादास्पद कामुक चित्रण धार्मिक संप्रदायों से जुड़े हैं।

भारत की विविध मूर्तिकला शैलियों का सांगोपांग सिंहावलोकन इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि भारतीय शिल्पकला की यात्रा अत्यंत प्राचीन तथा बहुमुखी रही है। सिंधु घाटी सभ्यता से आरंभ होकर मौर्य काल की पॉलिशित पाषाण प्रतिमाओं, गंधार शैली की यूनानी-बौद्ध मिश्रित रूपाकृतियों, मथुरा की लाल पाषाण की सुकोमल अभिव्यक्तियों, गुप्त युग की शास्त्रीय परिपक्वता, चोल वंश की कांस्य प्रतिमाओं की गतिशीलता तथा होयसल शैली की जटिल अलंकरणों तक यह शैलियां विकसित हुईं।[16] इनमें पाषाण काल की आदि मानवीय अभिव्यक्तियां, मौर्य काल की अशोक स्तंभों की प्रतीकात्मकता, कुषाण युग की गंधार तथा मथुरा की संयुक्त विदेशी-स्वदेशी प्रभाव, गुप्त काल की सर्णाथ बुद्ध प्रतिमा की आध्यात्मिक शांति, मध्यकालीन चोल तथा पाल शैलियों की भक्ति भावना तथा बाद के युगों में लोक तथा जनजातीय तत्वों का समावेश दृष्टव्य है। ये शैलियां न केवल धार्मिक आख्यानों का माध्यम बनीं, अपितु सामाजिक जीवन, राजकीय वैभव तथा सांस्कृतिक विविधता को भी प्रतिबिंबित करती रहीं। समग्रतः, भारतीय मूर्तिकला की ये विविध शैलियां एक सतत विकास की साक्षी हैं, जहां क्षेत्रीय विविधताएं जैसे उत्तर भारत की गंधार-मथुरा, दक्षिण की चोल-होयसल तथा पूर्व की पाल शैलियां एक सांस्कृतिक एकता का सूत्र प्रदान करती हैं।[17]

वर्तमान संदर्भ में इन मूर्तिकला शैलियों की प्रासंगिकता अविच्छिन्न बनी हुई है। वैश्वीकरण के युग में ये शैलियां भारत की सांस्कृतिक पहचान को मजबूत करती हैं तथा पर्यटन, शिक्षा तथा कलात्मक प्रेरणा के स्रोत के रूप में कार्य करती हैं। उदाहरणार्थ, संग्रहालयों तथा मंदिरों में संरक्षित ये प्रतिमाएं आधुनिक समाज को प्राचीन मूल्यों से जोड़ती हैं, जहां भक्ति, शांति तथा सौंदर्य के आदर्श आज भी प्रासंगिक हैं। वैश्विक स्तर पर, ये शैलियां कला इतिहासकारों तथा शिल्पकारों को प्रेरित करती हैं, तथा संयुक्त राष्ट्र जैसे संगठनों द्वारा सांस्कृतिक धरोहर के रूप में मान्यता प्राप्त करती हैं। किंतु, जलवायु परिवर्तन तथा शहरीकरण के कारण इनकी प्रासंगिकता में चुनौतियां भी हैं, जो संरक्षण की आवश्यकता को रेखांकित करती हैं।[18]

आधुनिक मूर्तिकला पर टिप्पणी करते हुए कहा जा सकता है कि प्राचीन शैलियों का प्रभाव स्पष्ट है, किंतु पाश्चात्य प्रभावों से इसमें नवीनता आई है। रामकिंकरबैज जैसे शिल्पकारों ने प्राचीन परंपराओं को अमूर्त, अभिव्यक्तिवादी तथा यथार्थवादी शैलियों से जोड़ा, जहां सीमेंट, लोहा तथा मिट्टी जैसे माध्यमों से लोक जीवन को चित्रित किया गया।[19] आधुनिक शिल्पकला में प्राचीन गंधार की यथार्थता तथा गुप्त की सुकोमलता का मिश्रण देखा जाता है, किंतु समकालीन कलाकार प्रतीकात्मकता से दूर होकर सामाजिक मुद्दों जैसे पर्यावरण तथा लिंग समानता पर ध्यान केंद्रित कर रहे हैं। हालांकि, यह परंपरा से विचलन कुछ आलोचकों द्वारा नकारात्मक माना जाता है, क्योंकि इससे प्राचीन आध्यात्मिकता का ह्रास होता प्रतीत होता है। फिर भी, आधुनिक मूर्तिकला भारतीय कला को वैश्विक मंच पर स्थापित कर रही है, जहां पारंपरिक तथा नवीन तत्वों का संतुलन आवश्यक है।[20]

संरक्षण के सुझाव देते हुए प्रथमतः इन प्रतिमाओं का दस्तावेजीकरण तथा डिजिटल अभिलेखन अनिवार्य है, ताकि क्षय से बचाव हो सके। सरकारी संस्थाएं जैसे भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण को बहाली कार्यों में निवेश बढ़ाना चाहिए, जहां रासायनिक उपचार तथा जल-प्रतिरोधी तकनीकों का उपयोग हो। सामुदायिक भागीदारी से स्थानीय स्तर पर जागरूकता अभियान चलाए जाएं, तथा शिक्षा में इन शैलियों को सम्मिलित कर भावी पीढ़ियों को प्रेरित किया जाए। इसके अतिरिक्त, प्रदूषण नियंत्रण तथा सुरक्षित संग्रहालय निर्माण से संरक्षण सुनिश्चित होगा। वैश्विक सहयोग से, जैसे यूनेस्को के माध्यम से, इन धरोहरों को संरक्षित रखा जा सकता है, ताकि भारतीय मूर्तिकला की विविधता सदा जीवंत रहे। इस प्रकार, यह उपसंहार भारतीय मूर्तिकला की अमरता को रेखांकित करता है, जो अतीत से वर्तमान को जोड़ती है तथा भविष्य के लिए प्रेरणा स्रोत बनी रहेगी।

इति नमस्कारान्ते।

संदर्भ-ग्रंथ-सूची:

1. अग्रवाल, वासुदेव शरण. (१९५६). भारतीय मूर्तिकला. वाराणसी: पृथ्वी प्रकाशन.
2. क्रेमरिश, स्टेला. (१९३३). भारतीय मूर्तिकला. कलकत्ता: वाईएमसीए प्रकाशन गृह.
3. रोलैंड, बेंजामिन. (१९५३). भारत की कला तथा स्थापत्य: बौद्ध, हिंदू, जैन. बाल्टीमोर: पेंगुइन बुक्स.
4. चंद्रा, प्रमोद. (१९८५). भारत की मूर्तिकला, ३००० ई.पू.-१३०० ई. वाशिंगटन: नेशनल गैलरी ऑफ आर्ट.
5. हार्ले, जे.सी. (१९९४). भारतीय उपमहाद्वीप की कला तथा स्थापत्य. येल विश्वविद्यालय प्रेस.
6. क्रेवेन, रॉय सी. (१९९७). भारतीय कला: एक संक्षिप्त इतिहास. थेम्स एंड हडसन.
7. कृष्णदास, राय. (१९५०). भारतीय मूर्तिकला. दिल्ली: राजकमल प्रकाशन.
8. महाजन, अन्नू. (२०१८). भारतीय मूर्तिकला. नई दिल्ली: केएसके प्रकाशक.
9. अग्रवाल, वासुदेव शरण. (१९५३). भारतीय कला का इतिहास. वाराणसी: प्राच्य विद्यापीठ.
10. त्रिपाठी, रामशंकर. (१९६०). भारतीय इतिहास. मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली.
11. Agrawal, A. (१९८९). Rise and Fall of the Imperial Guptas. Motilal Banarsidass.
12. Harle, J. C. (१९७४). Gupta Sculpture: Indian Sculpture of the 4th to the 6th Centuries A.D.. Clarendon Press.
13. Williams, J. G. (१९८२). The Art of Gupta India: Empire and Province. Princeton University Press.
14. चंदा, रामप्रसाद. (१९३६). ब्रिटिश संग्रहालय में मध्यकालीन भारतीय मूर्तिकला. ज्ञान प्रकाशन गृह.
15. अथर्टन, सिंथियापैकर्ट. (१९९७). प्रारंभिक मध्यकालीन राजस्थान की मूर्तिकला. ब्रिल.
16. अग्रवाल, गिरिराज किशोर. (१९८५). भारतीय मूर्तिकला का परिचय. ललित कला प्रकाशन, इलाहाबाद.
17. शुक्ल, शुकदेव. (१९५९). भारतीय कला गौरव.प्रथम संस्करण. साचिन प्रकाशन.
18. कृष्णदास, राय. (१९८५). भारतीय शिल्पकार. युगांतर प्रकाशन, वाराणसी.
19. वर्मा, सविता. (जून,२०२१). आधुनिक भारतीय मूर्तिकला के अग्रदूत: रामकिंकरबैज. द रिसर्च, खंड 6, अंक ३.
20. सोती, अलका. (२०१७). भारतीय मूर्तिकला.सुबहर्ती विश्वविद्यालय प्रकाशन.